अहिंसा और अपरिग्रह के प्रतीक—महावीर स्वामी

महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला का देहांत हो चुका था और वे इस बंधन के कट जाने पर समस्त राज-वैभव को त्यागकर सर्वत्यागी संन्यासी बनने की तैयारी कर रहे थे कि उनके बड़े भाई नंदिवर्द्धन ने आकर कहा—"भाई, तुम यह कैसा विचार कर रहे हो ? अभी हम माता-पिता के वियोग से ही संतप्त हो रहे हैं और इसी समय तुम भी हमको छोड़कर चले जाना चाहते हो। एक घाव के ऊपर हम दूसरा घाव कैसे सहन कर सकेंगे ? अभी तुम्हारा कर्तव्य घर में ही रहकर हमको सांत्वना देना है, जिससे परिजन और प्रजाजनों की सुरक्षा और सुव्यवस्था संभव हो सके।"

भाई की स्नेहपूर्ण बातें सुनकर महावीर चिंता में पड़ गये। वे होश सँभालते ही समाज में फैले हुए अंध-श्रद्धापूर्ण धार्मिक कर्मकांडों और अन्यायपूर्ण, सामाजिक परंपराओं की हानियों को समझ गये थे और अपना समस्त जीवन उन्हीं के सुधार में लगाना चाहते थे। अभी तक वृद्ध माता-पिता को मानसिक परिताप न हो, इस विचार से वे घर में ठहरे हुए थे। पर जब वह बाधा दूर हो गई तो उनको अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होने में देर करना एक अपराध की तरह जान पड़ने लगा और वे उसके लिए उद्यत हो गए। भाई की व्याकुलता देखकर उन्होंने कहा—"आप मुझसे कब तक ठहरने की कहते हैं ?"

नंदिवर्धन ने उत्तर दिया—"अभी कम से कम दो वर्ष तक तुम घर में रहो, उसके पश्चात् परिस्थिति के अनुसार निश्चय किया जायेगा।"

महावीर ने कहा—"मैं आपके संतोष के लिए दो वर्ष तक ठहरना स्वीकार करता हूँ, पर अब मैं इस राजकीय वैभव और

भोग-विलास की सामग्रियों के बीच अपना समय व्यतीत नहीं कर सकता। इसलिए घर में रहते हुए भी मैं एक बिल्कुल सामान्य प्रजाजन के समान जीवन व्यतीत करूँगा और मेरे लिए कोई राजकीय समारंभ न हो।"

महावीर की त्याग वृत्ति—

सांसारिक लोगों की निगाह से निःसंदेह यह एक निराला या नासमझी का ही विचार हो सकता है। जिस धन के लिए लोग प्रायः हर प्रकार का कर्म करने को तत्पर हो जाते हैं और उसके लिए जान-बूझकर भी अन्याय, अत्याचार, अनीति का आश्रय लेने में भी संकोच नहीं करते, उसको महावीर स्वेच्छा से त्याग रहे थे और एक क्षण भी उसके संसर्ग में रहना नहीं चाहते थे। उनको धन की ऐसी ममता और स्वार्थ-भावना मनुष्य के पतन का कारण जान पड़ती थी और वे समाज के सामने एक भिन्न प्रकार का आदर्श और उदाहरण उपस्थित करना चाहते थे। वे लोगों को बतलाना चाहते थे कि धन की अनुचित अभिलाषा रखना, करोड़ों रुपया इकट्ठा करके जगत्-सेठ और नगर-सेठ बनने की महत्त्वाकांक्षा करना, व्यक्ति और समाज दोनों के लिए पतनकारी है। इस प्रकार की बातों को मुँह से तो बहुत से लोग कहते हैं और सिद्धांत में मानने वालों की भी कमी नहीं, पर उनको स्वयं व्यवहार में लाने वाले सब प्रकार के साधन और सामर्थ्य होने पर भी समाज के कल्याणार्थ निर्धनता का जीवन अपनाने वाले कदाचित् ही कहीं दिखाई पड़ते हैं। महावीर ने एक वैभवशाली नरेश के पुत्र और महाशक्तिसंपन्न होने पर भी धन-लोलुपता के मार्ग को छोड़कर त्याग और अपरिग्रह के आदर्श को जन-साधारण के सम्मुख रखने का निश्चय किया।

महावीर के पिता महाराज सिद्धार्थ क्षत्रिय कुंडनपुर (कुंडलपुर) के शासक थे। यह स्थान बिहार के लक्खीसराय स्टेशन से कुछ मील दूर खंडहरों के रूप में अवस्थित है। उनकी माता त्रिशला देवी वैशाली के राजा चेट की पुत्री थी। यह दंपत्ति शुद्ध आचार-विचार वाले और धर्म पर अत्यंत श्रद्धा रखने वाले थे।

इनके ऐसे संस्कारों का प्रभाव महावीर (जिनका पारिवारिक नाम 'वर्द्धमान' था) के ऊपर भी बहुत अधिक पड़ा और वे बहुत छोटी अवस्था से ही मानव-जीवन के परम लक्ष्य के संबंध में विचार करने लगे। उनको अनुभव होने लगा कि धन-संपत्ति और उससे प्राप्त हो सकने वाले तरह-तरह के भोग अनित्य हैं और उनके कारण प्रायः मनुष्य की आत्मा का पतन ही होता है। भोगों को प्राप्त करने के लिए अधिकांश मनुष्य नीति और अनीति का विचार त्याग देते हैं। स्वयं भोगों का रूप भी ऐसा है कि उनके कारण आत्मा-निर्बल हो जाती है और मनुष्य के विचार सदाचरण की अपेक्षा असद्मार्ग की तरफ ही अधिक जाते हैं।

जैन सिद्धांत की प्राचीनता—

महावीर का जन्म विक्रम संवत् से लगभग ५२२ वर्ष पूर्व हुआ था। जैन ग्रंथों के अनुसार यह धर्म उससे बहुत पहले से प्रचलित था। उनके कथनानुसार इसके प्रवर्तक ऋषभदेव जी थे, जो मानव-जाति के आदि काल में उत्पन्न हुए थे। हिंदू शास्त्रों में भी इनका अनुमोदन किया गया है और महापुराण, श्रीमद्भागवत में ऋषभ को भगवान् का नौवां अवतार मानकर उनके संबंध में लिखा है—

नाभेरसावृषभ आस सुदेवि सूनुः,
यो वै चार समदृग् जडयोगचर्याम्।।
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसंगः।।

(२. ७. १०)

अर्थात्—"नाभि राजा के घर में सुदेवी के ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिन्होंने समदर्शी, शांतेंद्रिय, सबसे विरक्त हो, जड़योग समाधि का आचरण किया, जिस योग को परमहंस दशा कहते हैं।"

यद्यपि इन पौराणिक मान्यताओं का कोई ऐतिहासिक अथवा तर्क-संगत आधार नहीं है तो भी हम यह मान सकते हैं कि जैन धर्म की मूल विचारधारा, जिसको हम कर्मकांड के मुकाबले में

ज्ञान-मार्ग कह सकते हैं, भारतवर्ष में प्राचीनकाल से वैदिक यज्ञों के साथ चलती आई थी। केवल ऋषभ देव ही नहीं—महर्षि कपिल आदि और भी अनेकों महापुरुष इस मार्ग के प्रवर्तक रहे हैं। उपनिषदों के ऋषियों में से अधिकांश की विचारधारा ज्ञानमार्गी ही थी। उसी में से देश-काल के अनुसार विभिन्न शाखाएँ फूटती रहीं, जिनमें जैन सिद्धांत की भी गिनती की जा सकती है। पर उस समय यह मुख्यतः त्यागी-तपस्वियों में ही प्रचलित था, साधारण जनता में से कदाचित् ही किसी का ध्यान इधर आकर्षित होता था। श्री महावीर स्वामी का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने इसको एक व्यवस्थित संगठन का रूप देकर जनता को भी इसकी प्रेरणा दी और गृहस्थों के लिए एक श्रमण-श्रेणी पृथक् निर्माण कर दी।

महावीर का मनस्वी जीवन—

अंतं में दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर महावीर के अभिनिष्क्रमण (वन गमन) का समय आ पहुँचा। राज्य, परिवार, धन-धान्य, महल आदि सब विषयों से उन्होंने अपने मन को खींच लिया और मार्गशीर्ष कृष्णा १० को दिन के चौथे पहर पालकी में बैठकर राज-भवन से बाहर निकले। राज-कुटुंब, राज्याधिकारी, सेना के अतिरिक्त हजारों दर्शकों का समूह भी आपके पीछे चला। नगर में कुछ दूर 'ज्ञात-खंड' नामक महावीर का दीक्षा-संस्कार हुआ। वे पालकी से उतरकर एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठ गये और जैन-साधुओं के नियमानुसार उन्होंने अपना सर्वस्व (वस्त्र भी) त्यागकर मस्तक और मूँछ आदि के बाल भी अपने हाथ से उखाड़ कर 'केश लौंच' किया। इस दृश्य को देखकर समस्त नगर निवासी, स्वजनवर्ग और विशेष रूप से उनके बड़े भाई नंदिवर्धन व्याकुल हो उठे और उनके नेत्रों से आँसू गिरने लगे।

जब दिन दो घड़ी शेष रह गया तो महावीर स्वामी उद्यान से उठकर 'विहार' (पदचर्या) करने चल दिये क्योंकि मुनियों के लिए वर्षाकाल के सिवा अन्य ऋतुओं में एक स्थान में रहने का विधान नहीं है। वे निरुद्देश्य भाव से भ्रमण करते हुए कुमारगाँव नामक स्थान में पहुँच गये और वहीं एक जगह खड़े होकर ध्यानस्थ हो

गए। थोड़ी देर पीछे कुछ ग्वाले वहाँ बैलों को चराने आ गए। महावीर स्वामी को वहाँ खड़े देखकर के बैलों को उनके भरोसे छोड़कर किसी काम से गये। जब वे वापस आये तब बैल चरते हुए इधर-उधर निकल गए थे। उन्होंने महावीर से उनके विषय में पूछा। एक तो ध्यानवस्था और दूसरे सांसारिक-कार्यों से विरक्त, उन्होंने ग्वालों की बातों को सुना भी नहीं। तब वे ग्वाले बैलों को ढूँढने दूर-दूर तक घूमने लगे। जब बैल उनको न मिले तो थककर फिर उसी जगह आ गये, जहाँ महावीर ध्यान कर रहे थे। उस समय बैल भी घूमते हुए वहीं आ गये थे। इस पर उन ग्वालों ने समझा कि इन्होंने उस समय बैलों को कहीं छिपा दिया था और इस तरह ये इनको चुराना चाहते थे। बस, वे क्रोधित होकर उनको रस्सियों से मारने लगे। वे मारते-मारते थक गये पर महावीर अपने ध्यान से न डिगे और न अपने मुँह से एक भी शब्द निकाला।

यह एक प्रकार से पहले ही दिन उनके तपस्वी जीवन की परीक्षा थी। यद्यपि वर्तमान समय में इस प्रकार अकारण अपने कष्टों में डाल देना और बिना किसी उद्देश्य के घोर संकटों को सहन करते रहना ठीक नहीं समझा जायेगा, पर जो लोग सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में पाँव रखते हैं, यदि वे अपनी प्रतिज्ञा के सच्चे हैं तो उनको किसी न किसी रूप में कष्टों को सहन करने के लिए प्रस्तुत होना ही पड़ेगा। वे जो कुछ परोपकारमय कर्म करेंगे, वह कुछ लोगों के लिए उपकारी जान पड़ेगा तो अन्य लोगों को उसमें अपनी हानि का अनुभव होगा। उदाहरणार्थ, जो प्रचारक शराबी लोगों को इस दुर्व्यसन के त्याग का उपदेश देते हैं, उनको शराब के दुकानदार अपना शत्रु समझते हैं और जब अवसर मिलता है तो उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। जो लोग जुआ, सट्टा, लाटरी आदि जैसी कुप्रवृत्तियों को मिटाने का आंदोलन करते हैं, उनके विरोधी वे लोग बन जाते हैं, जो इस प्रकार जघन्य कर्मों से धन कमाते हैं। महावीर स्वामी को भी समाज में फैली हुई अंध परंपराओं को मिटाना था, ऐसी दशा में जो लोग उन परंपराओं के आधार पर ही लाभ उठा रहे थे, अपना

उदर-पोषण करते रहते थे, उनसे टक्कर हो जाना स्वाभाविक ही था। इसलिए महावीर ने पहले ही दिन होने वाले इस दुर्व्यवहार को यदि अपनी एक परीक्षा समझा तो यह ठीक ही था।

इस प्रकार बारह वर्ष के तपस्वी-जीवन में महावीर को विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा, पर उन्होंने उन सबको आगामी कार्यक्रम की तैयारी समझकर वीरतापूर्वक सहन किया। यह उनके पूर्ण संयमी और ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन का ही प्रभाव था, जो इस प्रकार के भयंकर कष्टों को सहकर अपने मार्ग पर दृढ़ रह सके। अनेक बार उनसे विरोध भाव रखने वाले या अकस्मात् मिल जाने वाले क्रूर व्यक्तियों ने भयंकर अत्याचार किये पर उन्होंने कभी किसी पर रोष नहीं किया, वरन् सबको पाप कर्म त्यागकर धर्म पथ पर चलने का ही उपदेश दिया। बारहवें वर्ष में जब वे 'षडमानी' गाँव के समीप तपस्या कर रहे थे, तब एक दुष्ट व्यक्ति ने उनके दोनों कानों में लकड़ी ठूँस दी, जिससे उनको घोर वेदना होने लगी। दूसरे दिन जब वे एक दूसरे गाँव में पहुँचे तो एक वैद्य की निगाह उन पर पड़ी। महावीर की मुखाकृति से वैद्य ने उनकी शारीरिक-वेदना का अनुमान किया और समस्त शरीर को टटोलकर कानों में ठूँसी हुई लकड़ियों को बाहर निकाला।

महावीर स्वामी ने अपने बारह वर्ष के तपस्वी जीवन में सर्दी, गर्मी, वर्षा के वेगों को अपने शरीर पर सहन कर जो काया कष्ट उठाये, उनके महत्त्व को थोड़े ही लोग समझ पाये हैं। उनके पुराने ढंग के अनुयायी तो इनको पाप का ध्वंस करने वाला मानकर धर्म का एक बहुत बड़ा अंग बतलाते हैं और बुद्धिवादी या प्रत्यक्षवादी इन्हें धर्म की गलत भावना के आधार पर किये गये निरर्थक कार्य और समय का बर्बाद करना बतलाते हैं। वस्तु स्थिति में यह है कि जिस समय यह तपस्या की गई थी, उस समय समाज में कोई बड़ा काम करने के लिए इसकी अनिवार्य रूप से आवश्यकता थी। उस समय न तो आवागमन के साधन अधिक विकसित हुए थे और न लेन-देन तथा व्यापार-व्यवस्था की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हुई थी कि आजकल की तरह कुछ रुपया पास में होने से

मनुष्य चाहे जहाँ चला जाय और हर जगह चाहे जो आवश्यक चीज खरीदकर काम चला सके।

उस समय सामान्य यात्रियों को भी प्रायः बीहड़ जंगलों और पहाड़ी रास्तों में होकर तरह-तरह के खतरे उठाते हुए यात्रा करनी पड़ती थी। इसलिए उस समय दूर की यात्रा एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य समझा जाता था, जिसे वे ही लोग करने को तैयार होते थे, जो प्राणों तक की बाजी लगाने को तैयार हों। ऐसी अवस्था में एक ऐसे धर्मोपदेष्टा के लिए, जिसे देश के अनजान भागों में दूर-दूर तक चलते जाना है, हर जगह पुराने संप्रदायों के अनुयायी, कट्टर लोगों का विरोध सहन करना है, ऊँचे दर्जे की सहन शक्ति का होना कितना अनिवार्य है ? यह प्रत्येक व्यक्ति सहज में समझ सकता है। अगर महावीर स्वामी ने इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर नये धर्म का प्रचार करने से पहले अपने को इस प्रकार के जीवन का अभ्यस्त बनाने का निश्चय किया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। उनकी यह साधना कितनी दृढ़ता के साथ की जाती थी, इसका वर्णन 'महावीर पुराण' में विस्तार के साथ किया गया है। यद्यपि वह पुराणकारों की अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में लिखा गया है तो भी उसका सारांश वास्तविकता से दूर नहीं है। उसका एक अंश नीचे दिया जाता है—

"महावीर प्रभु देश में अनेक नगरों, ग्रामों एवं वन-उपवनों में वायु की तरह स्वच्छंद गति से विचरने लगे। वे ममता, मोह से रहित थे और ध्यान-योग की सिद्धि के लिए सिंह के समान निर्भय होकर रात्रि के समय भी पर्वतों की अंधेरी गुफाओं में, श्मशान में, भयंकर निर्जन वन में रहते थे। क्रमशः छह दिन और आठ दिन के उपवास से लेकर अनेक दिन तक का अनशन तप उन्होंने किया। वर्षाकाल में जबकि सारी प्रकृति झंझावत के उग्र आलोड़न से थर्राने लगती थी, तब महावीर प्रभु धैर्य रूपी कंबल ओढ़कर किसी वृक्ष के नीचे समाधि लगाये रहते थे। शीतकाल में किसी चौराहे अथवा नदी के किनारे ध्यान में मग्न रहते थे और इस प्रकार कितने ही वृक्षों को जला देने वाले हिमपात को अपने ध्यान रूपी

अग्नि से भस्म किया करते थे। ग्रीष्मकाल में जब चारों ओर अग्नि-वर्षा करती थी तब सूर्य की किरणों से तपे हुए शिलाखंडों पर अपने ध्यान रूपी शीतल जल की सिंचाई किया करते थे। इस प्रकार वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में शारीरिक सुख का परित्याग करने के लिए कायक्लेश—तप की साधना में तत्पर रहकर छह प्रकार की अति कठिन तपस्या का महावीर स्वामी ने पालन किया।"

तपस्या की विचारधारा—

महावीर स्वामी की यह तपश्चर्या केवल प्राचीन रूढ़ियों के आधार पर बिना सोचे-विचारे नहीं की जाती थी, वरन् उन्होंने संसार में जीव की स्थिति और कर्मानुसार उसकी भली-बुरी गति के संबंध में पर्याप्त विचार किया था और उसी विचारधारा से प्रेरित होकर इस जीवन-प्रणाली को अपनाया था। उनकी यह विचारधारा "बारह भावना" के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें संदेह नहीं कि जो कोई उसका मनन और अनुसरण करेगा, वह कभी अपने निश्चित कर्तव्य मार्ग से पीछे कदम नहीं रखेगा। बारह भावनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

अनित्य-भावना—तीनों लोकों की आयु यमराज से घिरी हुई है, यौवन वृद्धावस्था के मुँह में है। यह शरीर रोग रूपी सर्प का बिल है और इंद्रिय-सुख क्षण-भंगुर है। अतएव इस अनित्य जगत् के लिए मैं उत्सुक नहीं होऊँगा।

अशरण-भावना—जिस प्रकार निर्जन वन में सिंह के पंजे में आये हुए बालक को कोई शरण नहीं होती, उसी प्रकार संसारी प्राणियों को रोग और मृत्यु से रक्षा करने वाला कोई नहीं है। मुझे अवश्य अपने किये हुए कर्मों को भोगना पड़ेगा।

संसारानुप्रेक्षा-भावना—यह संसार अनादि और अनंत है। इसमें मूढ़ जीवों को ही सुख दृष्टिगोचर होता है, पर ज्ञानियों के मत से वह दुःख रूप ही है। कारण यह कि अज्ञानीजन विषय-भोगों को ही सुख मानते हैं, पर ज्ञानी उनको नरक आदि का निमित्त समझकर दुःखदायी कहते हैं। पूर्व जन्मों में मैंने नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करके तरह-तरह के कष्ट भोग किये हैं, इस जीवन में मुझे उनसे छूटने का प्रयत्न करना चाहिए।

एकत्व-भावना—प्रत्येक प्राणी को जन्म धारण करके अकेले ही इस संसार रूपी वन में भटकना पड़ता है, अकेले ही दुःख-सुख सहन करना पड़ता है।

अन्यत्व-भावना—इस जगत् में प्राणी सब जीवों और वस्तुओं से अलग है। माता-पिता, पुत्र और कुटुंबीजन भी अपने नहीं। सांसारिक समस्त पदार्थ मुझसे अलग हैं।

अशुचि-भावना—यह शरीर रुधिर, वीर्य आदि से उत्पन्न हुआ है तथा सप्त धातुओं और मल-मूत्रादि से भरा है। मेरे लिए ऐसे अशुचि पदार्थों के भंडार देह का गर्व करना अनुचित है।

आस्रव-भावना—जिस प्रकार छिद्रयुक्त जहाज में जल भरते रहने से वह समुद्र में डूब जाता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों के भार से संसार-सागर में डुबता-उतराता रहता है। मैं मन, वचन, कर्म से ऐसा कार्य नहीं करूँगा, जो कर्म-बंधन में डालने वाला हो।

निर्जरा-भावना—पूर्व कर्मों को तपस्या द्वारा क्षय करना ही योगियों का कर्तव्य है। मैं तप और योग द्वारा कर्म-बंधनों को काटने और उनसे छूटने का उद्योग करूँगा।

इसी प्रकार संबर-भावना, लोक-भावना, बोधि-दुर्लभ भावना और रत्नमय भावना आदि उत्कृष्ट विचारों से महावीर ने अपने मानसिक क्षेत्र को पूर्णतः परिमार्जित करके तपस्वी जीवन के योग्य बनाया था और तभी वे कठिन से कठिन परिस्थितियों का मुकाबला करके समाज का उद्धार कर सकने में समर्थ हो सके।

पाठक देखेंगे कि महावीर की यह विचारधारा जहाँ एक अध्यात्मवादी साधन के अनुकूल थी, वहाँ जन-सेवा की मनोवृत्ति भी इसमें पूर्णतः प्रस्फुटित होती थी। आजकल के जो सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और सामाजिक नेता इस प्रकार उच्च भावनाओं से वंचित रहते हैं, वे ही प्रायः सार्वजनिक जीवन में स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार की वृद्धि करने वाले होते हैं। जिनको कभी संसार की अनित्यता का विचार नहीं आता और जो आराम देने वाले भौतिक पदार्थों को ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं, वे कैसे दूसरों के लिए सच्चा त्याग कर

सकते हैं ? इसी प्रकार जिनको किसी भी क्षण आने वाली आपत्ति का ध्यान नहीं बना रहता और जो अपनी अथवा अपने सहायकों की शक्ति बल पर अपनी स्थिति को सुरक्षित समझे बैठे हैं। वे असहायों पर न्याय और अत्याचार करने में क्यों हिचकिचायेंगे ? संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना केवल आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक कारणों से आवश्यक नहीं है, किंतु जिसे इस विश्व की विशालता का कोई विचार नहीं और जो अपनी डेढ़ ईंट की झोंपड़ी को ही सबसे महत्त्वपूर्ण और सुरक्षा के योग्य मानता है, वह दूसरों की विपत्ति और कष्टों की क्यों परवाह करने लगा ?

जो व्यक्ति महावीर की एकत्व-भावना का यह अर्थ लगाता है कि हम तो अकेले आये हैं और अकेले ही जायेंगे, दूसरों से हमको क्या मतलब तो वह बड़ी गलती करता है। यदि ऐसा होता तो इतना कठोर तप और सर्वस्व त्याग करने के पश्चात् महावीर तीस वर्ष तक जन-जागरण और सर्व-साधारण को मार्ग-दर्शन कराने के निमित्त देश भर में मारे-मारे न फिरते। उनको तो पूर्णरूप से आत्म-दर्शन हो ही चुका था। कहीं भी चैन से बैठकर आत्मानंद में शेष जीवन व्यतीत कर सकते थे। इसलिए उनकी एकत्व-भावना का आशय यही था कि जन-जीवन में प्रविष्ट होने वाले कर्मवीर व्यक्ति को इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए कि उसके साथ कितने व्यक्ति और चल रहे हैं ? किसी भी नये सिद्धांत के प्रचारक को आरंभ में प्रायः अकेले या अत्यल्प साथियों को लेकर कार्य क्षेत्र में कदम बढ़ाना पड़ता है। फिर जैसे-जैसे लोग उसके उद्देश्य की महानता को समझते जाते हैं। वैसे-वैसे ही उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती जाती है।

मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी पारिवारिक माया-मोह की ही होती है। बड़े-बड़े कार्यकर्ता स्त्री-पुत्रों के मोह में पड़कर कर्तव्य से पीछे हट जाते हैं। सामान्य श्रेणी के व्यक्ति तो परिवार की जिम्मेदारी का काम लेकर सार्वजनिक आंदोलन से अलग ही बने रहते हैं। इसलिए महावीर स्वामी ने लोगों को अन्यत्व भावना का भी उपदेश है कि सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी कभी उसमें इतने अधिक

लिप्त न हो जाओ कि समाजोत्थान या मातृभूमि की रक्षा जैसा कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सम्मुख आने पर भी उससे परिवार के बंधन के कारण कतराते रहो। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य यही है कि परिवार तथा संबधियों का हित साधन अवश्य करे, पर आत्मिक दृष्टि से अपनी स्वतंत्र और निर्लिप्त सत्ता को भी समझता रहे।

प्रगति के मार्ग में एक बड़ा रोड़ा अहंकार का है। संसार में मनुष्य छोटी-छोटी सफलताओं पर फूल जाता है। वह वंश, कुछ धन, सुंदरता, बल जैसी सामान्य बातों पर गर्व करता है। यह मनोवृत्ति पतन की ओर अग्रसर करने और मनुष्य के अन्य सद्‌गुणों पर पानी फेर देने वाली है। इस संसार में एक से बढ़कर एक धनवान्, विद्वान्, कुलीन, सुंदर, शक्तिशाली व्यक्ति पड़े हैं, तब हमारा अपनी साधारण उन्नति पर अहंकार करना मूढ़ता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? महावीर स्वामी की अशुचि भावना का तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपनी वास्तविकता पर विचार करता रहे, जिससे उसके भीतर झूठा अभिमान पैदा न हो और वह दूसरों के साथ नम्रता और विनय का व्यवहार करता रहे। हमको भली प्रकार समझते रहना चाहिए कि ये दोनों सद्‌गुण मनुष्य के भूषण हैं, जबकि अभिमान या घमंड एक बहुत बड़ा दुर्गुण है।

भारतीय शास्त्रों में कर्म की गति को बड़ा गहन बतलाया है। कर्म ही मनुष्य को बंधन में डालता है और कर्म ही उससे मुक्त करता हैं। हमारे कुछ वेदांती भाई कहते हैं कि मनुष्य को कर्म त्याग कर देना चाहिए पर यह एक ऐसा भ्रामक सिद्धांत है, जो कभी कार्य रूप में परिणत हो ही नहीं सकता। भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

(३-५)

अर्थात्—"कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, निःसंदेह सभी व्यक्ति प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करते ही रहते हैं।"

पर चूँकि कर्म स्वभावतः बंधन कारक होता है। इसलिए गीताकार ने निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश दिया है। श्री महावीर स्वामी भी ऐसे ढंग से कर्म करने का आदेश देते हैं, जो मनुष्य के लिए बंधन कारक न हो।

पर निष्काम कर्म का सिद्धांत वर्तमान जन्म के कर्मों पर ही लागू होता है। जो कर्म पुराने जन्मों से प्रारब्ध बनकर साथ लगे हुए हैं, उनसे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं, सिवाय उनको भोगा जाए। पर जहाँ साधारण मनुष्यों की, जो विशेषतः सांसारिक कामों में ही संलग्न रहते हैं, उनको बड़े-लंबे समय तक भोगना पड़ता है। तपस्या और योग द्वारा कष्ट सहन कर लेने पर उनका निपटारा बहुत जल्दी किया जा सकता है। जो व्यक्ति संसार के विवशता-युक्त बंधनों से छुटकारा पाना चाहता है, जो उनसे सत्कर्म रूपी तप और योग से छुटकारा पाना चाहता है, उनको सत्कर्म रूपी तप और योग से सभी कर्मों से छुटकारा पाने का निरंतर उद्योग करते रहना चाहिए।

महावीर स्वामी की इन भावनाओं पर आचरण करने से मनुष्य निःसंदेह आत्म-कल्याण और समाज-कल्याण दोनों की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान तक पहुँच सकता है। इनमें कोई बात ऐसी नहीं है, जो केवल तपस्वियों के ही लायक हो और जिसे गृहस्थ लोग काम में न ला सकें।

महावीर स्वामी के उपदेश—

तपस्या और साधना द्वारा पूर्ण आत्मशक्ति प्राप्त कर लेने पर महावीर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और पूरे तीस वर्ष तक विशेष रूप से बिहार और गौण रूप से भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी प्रचार कार्य करते रहे। यद्यपि उनकी धर्मयात्राओं (विहार) का ठीक वर्णन कहीं नहीं मिलता तो भी उपलब्ध वर्णनों सें यही विदित होता है कि उनका प्रभाव विशेष रूप से क्षत्रियों और व्यवसायी-वर्ग पर पड़ा, जिनमें शूद्र भी बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित थे।

महावीर अहिंसा के दृढ़ उपासक थे, इसलिए किसी भी दशा में विरोधी को क्षति पहुँचाने की वे कल्पना भी नहीं करते थे। वे

किसी के प्रति कठोर वचन भी नहीं बोलते थे और जो उनका विरोध करता, उसको भी नम्रता और मधुरता से ही समझाते थे। इससे परिचय हो जाने के बाद लोग उनकी महत्ता समझ जाते थे और उनके आंतरिक सद्भावना के प्रभाव से उनके भक्त बन जाते थे।

महावीर स्वयं क्षत्रिय और राजवंश के थे, इसलिए उनका प्रभाव कितने ही क्षत्रिय नरेशों पर विशेष रूप से पड़ा। जैन ग्रंथों के अनुसार राजगृह का राजा बिंबिसार महावीर का अनुयायी था। वहाँ पर इसका नाम श्रेणिक बतलाया गया है और महावीर स्वामी के अधिकांश उपदेश श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर के रूप में ही प्रकट किये गए हैं। आगे चलकर इतिहास प्रसिद्ध महाराज चंद्रगुप्त मौर्य भी जैन धर्म के अनुयायी बन गये थे और उन्होंने दक्षिण भारत में आकर जैन मुनियों का तपस्वी-जीवन व्यतीत किया था। उड़ीसा का राजा खाखेल तथा दक्षिण के कई राजा जैन थे। इसके फलस्वरूप जनता में महावीर स्वामी के सिद्धांतों का अच्छा प्रचार हो गया और उनके द्वारा प्रचारित धर्म कुछ शताब्दियों के लिए भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया। आगे चलकर अनेक जैनाचार्यों ने जैन और हिंदू धर्म के समन्वय की भावना को भी बल दिया, जिसके फल से सिद्धांत रूप से अंतर रहने पर भी व्यवहार रूप में इन दोनों धर्मों में बहुत कुछ एकता हो गई और जैन एक संप्रदाय के रूप में ही हिंदुओं में मिल-जुल गये।

अहिंसा परमो धर्म—

महावीर स्वामी का सबसे बड़ा सिद्धांत अहिंसा का है, जिनके समस्त दर्शन, चरित्र, आचार-विचार का आधार एक इसी अहिंसा सिद्धांत पर है। वैसे उन्होंने अपने अनुयायी प्रत्येक साधु (मुनि) और गृहस्थ (श्रावक) के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के पाँच व्रतों का पालन करना आवश्यक बतलाया है, पर इन सबमें अहिंसा की भावना सम्मिलित है। इसलिए जैन विद्वानों का प्रमुख उपदेश यही होता है कि—"अहिंसा ही परम धर्म है। अहिंसा ही परम ब्रह्म है। अहिंसा ही सुख-शांति देने वाली है।

अहिंसा ही संसार का उद्धार करने वाली है। यही मानव का सच्चा धर्म है। यही मानव का सच्चा कर्म है। अहिंसा जैनाचार का तो प्राण ही है।"

"मानव और दानव में केवल अहिंसा का ही तो अंतर है। अहिंसा मानवी है, हिंसा दानवी है। जबसे मानव ने अहिंसा को भुला दिया तभी से वह दानव होता जाता है और उसकी दानवता का अभिशाप समस्त विश्व को भोगना पड़ रहा है। संसार में निवास करने वाला प्रत्येक प्राणी सुख-शांति का इच्छुक है। कोई मरना नहीं चाहता। दुःखी से दुःखी प्राणी भी जीवित रहना चाहता है। सबको अपना जीवन प्रिय ही नहीं, अति प्रिय है। ऐसी अति प्यारी चीज को नष्ट कर डालता है वह हिंसक है, दानव है, पातकी है और जो उसकी रक्षा करता है, अपने प्राण देकर भी दूसरों को बचाता है, उन्हें जीवनदान देता है, वह अहिंसक है, वही सच्चा मानव है।"

यद्यपि समय के प्रभाव से जैन-अहिंसा के रूप में बहुत अंतर पड़ गया है। लोग उसके मूल तत्त्व से अधिकांश में अनजान हो गये हैं और उसे अनेक बाह्य आचारों में इतना अधिक जकड़ा गया है कि साधारण मनुष्य के लिए उसका ठीक-ठीक पालन कर सकना अति कठिन जान पड़ता है। अन्य मतावलंबी तो उसे कायरता उत्पन्न करने वाली और इस निगाह से भारत वर्ष की पराधीनता का एक बड़ा कारण बतलाते हैं। पर इस कथन में सत्य का अंश अत्यल्प है क्योंकि जिस समय भारत पर मुसलमानों का आक्रमण होकर यहाँ की स्वाधीनता का अपहरण हुआ उस समय देश पर पृथ्वीराज, जयचंद, परमाल आदि क्षत्रिय राजाओं का ही अधिकार था, जो सभी कट्टर हिंदू धर्मावलंबी थे। उस समय न कहीं जैनियों की प्रबलता थी और न अहिंसा के सिद्धांत की चर्चा। मांस-भक्षण पर कोई भी रोक न थी। जो लोग धार्मिक और सामाजिक नियम के कारण मांस ग्रहण करते हों, उनकी संख्या दश प्रतिशत ही थी और आज भी ऐसी ही स्थिति हमारी आँखों के सम्मुख उपस्थित है।

जैनियों के आचार-विचार, अहिंसा के विषय में चाहे जैसे रूढ़िवादी बन गये हों, पर इसमें संदेह नहीं कि महावीर स्वामी ने अपने समय में जिस अहिंसा के सिद्धांत का प्रचार किया, वह निर्बलता और कायरता उत्पन्न करने के बजाय राष्ट्र का निर्माण और संगठन करके उसे सब प्रकार से सशक्त और विकसित बनाने वाली थी। उसका उद्देश्य मनुष्य मात्र के बीच शांति और प्रेम का व्यवहार स्थापित करना था, जिसके बिना समाज कल्याण और प्रगति की कोई आशा नहीं रखी जा सकती। यद्यपि अहिंसा का प्रतिपादन सभी धर्मोपदेशकों ने अपने-अपने ढंग से किया है, पर जिस प्रकार महावीर और बुद्ध ने अहिंसा पर सबसे अधिक बल देकर उसी को अपने धर्म का मूलमंत्र बनाया, ऐसा किसी अन्य धर्म संस्था ने नहीं किया।

पर अभी तक लोगों ने अहिंसा के उस तत्त्व को भली प्रकार हृदयंगम नहीं किया है। महात्मा गाँधी ने गुजरात के एक जैन विचारक श्री रायचंद्र के उपदेशों से प्रभावित होकर महावीर के अहिंसा-तत्त्व का अध्ययन और मनन किया था और आजीवन वे उसके अनुयायी बने रहे। भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का आधार अहिंसा पर रखकर उन्होंने संसार के सम्मुख एक नया और अद्‌भुत आदर्श रखा। हम कह सकते हैं कि अहिंसा मूलक आंदोलन द्वारा उन्होंने उसका महत्त्व जितना अधिक बढ़ाया है, उतना पिछले सैकड़ों वर्षों के इतिहास में किसी ने नहीं कर दिखाया। महात्मा जी ने सन् १९१९ में अहमदाबाद की एक सभा में भाषण करते हुए कहा था—

"मैं विश्वासपूर्वक यह कह सकता हूँ कि महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी सिद्धांत के लिए पूजा जाता है तो वह अहिंसा ही है। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार संसार के जुदे-जुदे धर्मों का अध्ययन किया है और उनके जो सिद्धांत मुझे योग्य मालूम हुए, उनका आचरण भी मैं करता रहा हूँ। मैं अपने को एक पक्का सनातनी हिंदू मानता हूँ। परंतु मैं नहीं समझता कि जैन-दर्शन दूसरे दर्शनों की अपेक्षा हलका है अथवा उसकी हिंदू

धर्म में गणना नहीं की जा सकती। इसीलिए मैं मानता हूँ कि जो सच्चा हिंदू है वह जैन है और जो भी सच्चा जैन है वह हिंदू है। प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात में है कि उस धर्म में अहिंसा का तत्त्व कितने परिमाण में है और इस तत्त्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है तो वे महावीर स्वामी थे।"

वास्तव में उपदेशों और लेखों में अहिंसा के संबंध में बड़ी-बड़ी बात कह देना या उसके लिए आदर्श नियम बना देना और बात है और उसे व्यवहार में लाकर महान् फल की प्राप्ति कर दिखाना दूसरी बात है। महावीर ने अपने समय में अहिंसा को ऐसा ही रूप दिया था। वे उसे स्वयं व्यवहार में लाये थे और घोरतम कष्ट सहन करके भी अहिंसा का उदाहरण जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। इस प्रकार उन्होंने केवल धर्म को दूषित बनाने वाली पशु-बलिदान की प्रथा को ही नहीं रोका, वरन् देश के विभिन्न वर्गों में फैले हुए वैषम्य तथा फूट को शांत करके सामाजिक प्रगति के मार्ग को भी प्रशस्त किया। इस निगाह से महावीर स्वामी तत्कालीन जनता के लिए वैसे ही मार्ग-प्रदर्शनकारी थे जैसे वर्तमान समय में महात्मा गाँधी थे।

यह स्पष्ट है कि जन-समाज के पारस्परिक सहयोग और लाभदायक संबंधों का आधार बल-प्रयोग नहीं हो सकता। पारिवारिक और सामाजिक जीवन के निर्माण में अधिकांश सहानुभूति, दया, प्रेम, त्याग और सौहार्द्र का ही स्थान रहता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति और समाज का संबंध बहुत घनिष्ठ होता है। व्यक्तियों का जैसा आचरण रहेगा, समाज का वैसा ही वातावरण होगा। इसलिए महावीर ने प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का सुधार करने तथा उसे त्यागमूलक बनने पर बहुत जोर दिया। उन्होंने यह भी उपदेश दिया कि शासन भी धार्मिक तथा अहिंसक हो क्योंकि शासन-व्यवस्था में अनीति का प्रवेश हो जाने से समस्त राष्ट्र का नैतिक-जीवन भ्रष्ट हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश की आजकल की अवस्था है, जिससे राज्याधिकारियों में भ्रष्टाचार घुस जाने से समस्त देश का

वातावरण दूषित हो गया है और देशवासियों का नैतिक स्तर गिर जाता है। इसी उद्देश्य से महावीर स्वामी ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य रखा था।

अहिंसा—सिद्धांत का महत्त्व केवल धर्म और समाज की दृष्टि से ही नहीं है, वरन् राजनैतिक दृष्टि से विश्व शांति की समस्या का समाधान भी उसके बिना हो सकना असंभव है। महावीर ने बतलाया कि सब प्राणियों के साथ 'जियो और जीने दो' की नीति के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। उन्होंने सभी मनुष्यों और समाज को यही उपदेश दिया कि 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि अपने साथ चाहते हो।' आज दुनिया के अधिकांश राष्ट्रों में आपाधापी की नीति चल रही है, जिसने बढ़ते-बढ़ते ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया है कि सदैव विश्वव्यापी संग्राम छिड़ने की आशंका बनी रहती है। यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है कि यदि ऐसा विश्व युद्ध छिड़ेगा तो मानवीय सभ्यता बहुत कुछ नष्ट हो जायेगी। यह सब विभिन्न राष्ट्रों और जातियों में हिंसामूलक नीति की प्रधानता होने का ही परिणाम है। स्वार्थपरता, बेईमानी, धोखेबाजी ये सब अहिंसा के ही प्रतिरूप हैं। इस प्रकार का व्यवहार होते हुए दो व्यक्तियों अथवा दो राष्ट्रों में वास्तविक मित्रता कदापि नहीं हो सकती, चाहे वे दुनिया को दिखाने के लिए किसी अवसर पर मेल-मिलाप का ढोंग भले ही कर लें। इसलिए संसार वर्तमान अशांतिपूर्ण अवस्था का सुधार करने तथा मानव-जाति का महानाश से रक्षा करने का एकमात्र उपाय अहिंसा की भावना का प्रसार होना ही है। इस दृष्टि से महावीर स्वामी का जीवन-कार्य आजकल के मनुष्यों के लिए तो एक महान् आदर्श की तरह ही माना जा सकता है।

अपरिग्रह की महिमा—

महावीर स्वामी का दूसरा महान् सिद्धांत अपरिग्रह है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को यथाशक्ति घटाना चाहिए और अपने पास स्वयं ही निश्चित की हुई

एक सीमा से अधिक जीवन-निर्वाह की सामग्री का संग्रह नहीं होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने अपना तो सर्वस्व त्याग कर ही दिया था, दूसरों को भी वे यही उपदेश देते थे कि अपनी आवश्यकताओं को हर प्रकार से सीमित करो। दुनिया में वास्तविक त्याग बड़ा कठिन है। आज हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति साधु बनने पर भी संग्रह करना नहीं छोड़ पाते और धीरे-धीरे संपत्ति, जमीन, जायदाद संग्रह करने में गृहस्थों से भी आगे बढ़ जाते हैं। इसलिए महावीर स्वामी ने अपरिग्रह के पालन और उसकी सिद्धि के लिए एक विस्तृत और सर्वांगपूर्ण कार्यक्रम बनाया, जिसके अनुसार अभ्यास करके सभी लोग इस मार्ग में अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हो सकते हैं।

जैन-सिद्धांत में केवल संपत्ति या सामग्री को इकट्ठा न करना ही अपरिग्रह नहीं बतलाया है, वरन् आवागमन, व्यापार, उद्योग-धंधे, नौकरी, खानपान, मनोरंजन आदि सभी कार्यों को नियमित और निर्धारित परिमाण में करने का उपदेश दिया है। जैसे उन्होंने दिग्व्रत, देशव्रत आदि का विधान किया है, जिसका आशय यह है कि मनुष्य जीवन भर के लिए अपनी आवश्यकताओं को समझकर आने-जाने और लेन-देन करने के लिए क्षेत्र की एक मर्यादा बाँध ले और उसके बाहर कैसा भी लाभदायक सुयोग प्राप्त होने पर न जाये। कभी-कभी यह व्रत धारण कर ले कि इतने समय तक मैं अमुक ऐक स्थान में ही रहूँगा। खाने-पीने के लिए भी संसार में हजारों प्रकार के पदार्थ मिलते हैं, उनमें से अपने लिए चुनकर कुछ पदार्थों के व्यवहार का ही निश्चय कर ले, जिससे प्रत्येक पदार्थ की तरफ उसका ध्यान ही न जाय और न व्यर्थ की लालसा उत्पन्न हो। इसी प्रकार यदि वह भोग के लिए अपनी सीमा को अगर विवाहित पत्नी तक ही सीमित कर ले तो अनेक दोषों से बचा जा सकता है।

हम जानते हैं कि आजकल के अधिकांश मनुष्यों को ये बातें बड़ी अजीब और दकियानूसी जान पड़ेंगी। कुछ आधुनिक सभ्यताभिमानी इन पर हँसेंगे भी। वे कहेंगे कि मनुष्य को संसार

की अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, जहाँ तक संभव हो प्रत्येक पदार्थ और अवस्था को व्यवहार में लाकर देखना चाहिए और अपने कार्य क्षेत्र को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार संकुचित कूप-मंडूक बनने से क्या लाभ ?

यदि हम वर्तमान जगत् की अशांतिपूर्ण अवस्था पर गहराई के साथ विचार करें तो हमको उसके मूल में संपत्ति और भोग की यही तृष्णा मिलेगी। मनुष्य हजार पा जाता है तो उसको दो हजार की कामना होती है। साइकिल वाला मोटर साइकिल की और मोटर साइकिल वाला कार की अभिलाषा करता रहता है। इस प्रकार मनुष्य की इच्छाओं और बनावटी आवश्यकताओं की कोई हद नहीं होती। फिर इस व्यापार-प्रधान युग में आवश्यकताओं को घटाने के बजाय बढ़ाना और उनकी पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों और राष्ट्रों से प्रतियोगिता करना भी उन्नति का आधार मान लिया गया है। पर इस प्रकार की प्रवृत्ति से आगे चलकर छीना-झपटी और संघर्ष का जन्म होता है। यही मनोवृत्ति विस्तृत क्षेत्र और विशाल परिमाण में पहुँचकर नाशकारी युद्धों और महासंहार का कारण बन जाती है।

वर्तमान समय में लोगों द्वारा अति संग्रह के 'कंट्रोल' और 'कोटा' प्रणाली का उपयोग किया जाने लगा है। पर यदि मनुष्य अपने मन से अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को मर्यादित नहीं करते तो इस प्रकार के सरकारी नियमों का उलटा फल निकलता है। व्यापार एवं व्यवहार में 'चोर बाजारी' (ब्लैक मार्केट) का जन्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक परिमाण में योग्य वस्तुओं का संग्रह करके उन्हें ताले में बंद करके रखना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ चालाक और साधन-संपन्न व्यक्तियों को सफलता मिल जाती है और शेष लोगों को अभावग्रस्त अवस्था में रहना पड़ता है। वर्तमान युग में जो घोर महँगाई के दर्शन होने लगे हैं, वह भी इसी मनोवृत्ति का फल है। इससे आगे चलकर तरह-तरह के आंदोलन, झगड़े और असंतोष की वृद्धि होने लगती है और अंत में समाज में सर्वत्र अशांति तथा हिंसा का वातावरण फैल जाता है।

इस प्रकार की हानिकारक सामाजिक अव्यवस्था का समाधान करने के लिए आजकल 'समाजवाद' या 'साम्यवाद' जैसे सिद्धांत निकाले गये हैं और संसार में उनका बहुत कुछ प्रचार हो गया है। समाजवाद का सिद्धांत अधिकांश में स्वाभाविक और न्यायुक्त है और उसका उद्देश्य सामाजिक विषमता को मिटाकर जनता में सहयोग, सुख-शांति का प्रसार करना है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि इस प्रकार के नैतिक आचरणों का पालन केवल सरकारी कानूनों द्वारा बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता है। इसमें भी भीतर ही भीतर हिंसक प्रवृत्तियाँ काम करती रहती हैं, जिनसे अशांति और कलह की उत्पत्ति होती रहती है। इस प्रकार के परिवर्तन नैतिक शिक्षा और आंतरिक प्रेरणा से ही हो सकते हैं। बाद में सरकारी नियम और कानून भी उसमें सहायक हो सकते हैं। इसीलिए महावीर स्वामी और अन्य प्राचीन धर्मोपदेशकों ने भी इसके लिए आत्म-संयम और त्याग के मार्ग की ही प्रेरणा दी थी। महावीर के अपरिग्रह संबंधी उपदेशों का सारांश एक लेखक ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"स्त्री, पुत्र, घर, सोना आदि वस्तुओं में 'ये मेरी है', इस तरह का जो ममत्व रहता है, उसी को परिग्रह कहते हैं। इसी महत्त्व को घटाकर उन वस्तुओं के न्यूनाधिक त्याग को परिग्रह—परिमाण-व्रत कहा जाता है। किंतु वास्तव में मनुष्य की ममत्वयुक्त भावना ही अपरिग्रह है। यदि बाहरी चीजों को ही परिग्रह माना जाए तो जिन असंख्य गरीब या भिखारी जैसे लोगों के पास कुछ भी नहीं है, पर जो रात-दिन कमाने की उधेड़बुन में ही लगे रहते हैं, क्या वे सब अपरिग्रही कहलायेंगे ? पर यह कसौटी ठीक नहीं है। सच्चा अपरिग्रही वही है, जिसके पास कुछ नहीं है और न जिसके चित्त में किसी चीज की चाह ही है क्योंकि चाह होने पर मनुष्य परिग्रह का संचय किये बिना नहीं रह सकता। संचय की वृत्ति के तीव्र होने पर न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित का विचार नहीं रहता। फिर तो मनुष्य धन का कीड़ा बन जाता है, वह धन का स्वामी न रहकर उसका दास हो जाता है।

ऐसा व्यक्ति यदि कुछ धन दान के रूप में दे डालता है, तब भी उसका ममत्व नहीं छूटता। वह उसे अपने पास ही रखना चाहता है। उसे भय रहता है कि उस द्रव्य या सामग्री को कोई हड़प न ले। वह यह भी चाहता है कि इससे उसकी खूब कीर्ति हो, लोग उसका गुणगान करें, उसके दोषों पर परदा डाल दिया जाये, अखबारों में उसकी खूब बड़ाई छापी जावे। यह सब ममत्व-भावना का ही लक्षण है। उससे छुटकारा मिले बिना परिग्रह से भी मुक्ति नहीं मिल सकती।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब हम किसी चीज को अपनी नहीं समझते तो उस में भले-बुरे से न हमें प्रसन्नता होती है, न रंज, किंतु ज्यों ही किसी चीज में 'यह हमारी है' ऐसी भावना हो जाती है, त्यों ही मनुष्य उसकी चिंता में पड़ जाता है। इसलिए ममत्व ही परिग्रह है। उसके कम किये बिना परिग्रह रूपी बंधन से छुटकारा नहीं मिल सकता।

"जैसा धन-संपत्ति बाह्य-परिग्रह है वैसे ही काम, क्रोध, मद, मोह आदि अभ्यंतर परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रहों के समान ही इन आंतर-परिग्रहों को भी घटाना चाहिए। परिग्रहों को घटाने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद वगैरह सभी वस्तुओं की एक मर्यादा नियत कर ले कि इससे ज्यादा मैं अपने पास नहीं रखूँगा। ऐसा करने से उसके पास अनावश्यक द्रव्य का संग्रह भी नहीं हो सकेगा और आवश्यकता के अनुसार द्रव्य पास रहने से उसे कोई कष्ट भी न होगा। साथ ही वह बहुत सी व्यर्थ की हाय-हाय से बच जायेगा और अपना जीवन सुख और संतोष के साथ व्यतीत कर सकेगा। आज जो दुनिया में आर्थिक विषमता फैली है, उसका कारण मनुष्य की अनावश्यक संचय वृत्ति ही है। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुएँ अपने पास रखें और अतिरिक्त सामग्री को समाज के अन्य सदस्यों के उपयोग के लिए दे डालें तो आज दुनिया में जितनी अशांति दिखाई दे रही है, उसका दशमांश भी न रहे, संपत्ति

के बँटवारे की जो समस्या आज दुनिया के सामने उपस्थित है, वह बिना किसी कानून के स्वयं ही अधिकांश में हल हो जावे।"

महावीर स्वामी के पश्चात् भी सभी जैनाचार्य सर्वसाधारण को अपरिग्रह के लिए उपदेश देते रहे हैं। 'आत्मानुशासन' नामक ग्रंथ में गुणभद्र स्वामी ने कहा है—

आशागर्तं प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।

अर्थात्—"सभी प्राणियों में अभिलाषा का इतना बड़ा गड्ढा रहता है, जिसमें समस्त पृथ्वी अणु समान समा जाय। ऐसी स्थिति में पृथ्वी का बँटवारा किया जाय तो किसके हिस्से में कितना आयेगा ? अतः संसार के तृष्णाग्रस्त प्राणियों ! तुम्हारी विषयों की चाह व्यर्थ ही है।

शुद्धर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदा।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः।।

अर्थात्—"सज्जनों की संपत्ति भी न्यायोपार्जित धन से अधिक नहीं बढ़ सकती। क्या कभी महान् नदियों को स्वच्छ जल से लबालब भरा हुआ देखा गया है ?" "अर्थात् नदियों में सामान्यतः तो थोड़ा ही पानी रहता है और बरसात में जब वे भरती हैं तो चारों ओर से इकट्ठे होने वाले गंदे जल से भरकर उफनाती हैं।

अतएव मनुष्य को सदैव अन्याय की कमाई से बचना चाहिए। इसी से वह वास्तव में सुखी बन सकता है। इतना ही नहीं, यदि मनुष्य में विशेष योग्यता अथवा बुद्धि है और उसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों से बहुत अधिक उपार्जन कर सकता है तो भी उसके लिए यह उचित नहीं है कि वह सबको अपने ही काम में लाये। अपरिग्रह-व्रत का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य परिश्रम करना कम कर दे अथवा अधिक उपार्जन की कोशिश न करे। ऐसा करना तो समाज की कुसेवा करना ही कहा जायेगा। समाज में जन्म लेकर और उसके वातावरण में पलकर हमको विशेष शक्ति प्राप्त हो गई है तो उसका लाभ अवश्य ही समाज को पहुँचाना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, वह स्वार्थी अथवा संकीर्ण विचारों का ही माना जायेगा।

प्रशंसनीय जीवन वही है, जो समाज के उत्थान-कल्याण के लिए उपयोगी सिद्ध हो। अपनी समस्त कमाई स्वयं के ही काम में आवे—ऐसी भावना रखने वालों को सभी ज्ञानी पुरुषों ने निकृष्ट कहा है। भगवान् कृष्ण ने गीता में ऐसे स्वार्थी और पेटू लोगों की भर्त्सना करते हुए बड़ी मार्मिकता से कहा है—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्तेस्तेन एव सः।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

(गीता ३/१२-१३)

अर्थात्—"देवगण द्वारा दिये हुए उपभोग्य पदार्थों को जो व्यक्ति उनको समर्पित किये बिना ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है। जो व्यक्ति यज्ञ से (परोपकारमय कर्मों) बचे हुए अन्न को खाता है, वह सब पापों से छूट जाता है और जो केवल अपने लिए ही पकाता है वह तो पाप को ही खाता है।"

इसका आशय यही है कि यदि तुमको भगवान् की अनुकंपा से आवश्यकता से अधिक मिल जाता है तो तुम्हारे लिए यह कदापि उचित नहीं कि तुम उस सबको अपने ही पेट में डाल लो। ऐसा आचरण समाज और तुम्हारे—दोनों के लिए अहितकर होगा क्योंकि तुम्हारे अधिक ग्रहण कर लेने से समाज में किसी न किसी को उसकी कमी पड़ जायेगी और दूसरी तरफ आवश्यकता से अधिक सामग्री का उपयोग करने से तुमको भी अजीर्ण और मंदाग्नि जैसी खराबियों का सामना करना पड़ेगा। इसलिए समझदार और न्यायशील व्यक्ति का कर्तव्य यही है कि वह वेदों के "सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से बाँट दो" (ऋग्वेद ३/२४/५) इस आदेश का पालन करे। अपनी विद्या, बुद्धि, शक्ति के द्वारा उत्साहपूर्वक धन पैदा करे, पर उसे संदूक में बंद न करके निष्काम भावना से समाज कल्याणकारी कार्यों में लगा दें। यही वास्तविक अपरिग्रह है।

जीवन निर्माणकारी अन्य व्रत—

अहिंसा और अपरिग्रह के सिवाय अन्य तीन व्रत भी जीवन-निर्माण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से कोई बड़ी सफलता प्राप्त कर ले। बहुत बड़ी संपत्ति अथवा किसी राज्य आदि का स्वामी बन जाए तो इसका तब तक कोई महत्त्व नहीं जब तक वह इसके साथ ही सत्य, संतोष, सदाचार आदि गुणों का भी धारक न हो। संपत्ति और शक्ति दुराचारी व्यक्तियों के लिए महा अनिष्ट का कारण बन जाती है। साथ ही इस प्रकार दुष्कर्म करने से उन दुराचारी के पापों का घड़ा भी शीघ्र भरेगा और अंत में उसको जीवित और मृत दोनों अवस्थाओं में नरकाग्नि में ही जलना होगा।

सत्य-व्रत—

इसीलिए महावीर स्वामी ने उपदेश दिया कि यदि तुम अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हो तो सत्य व्रत का पालन करो। इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि जो वस्तु जैसी देखी या सुनी हो, उसे वैसी ही कह दो। यह तो सत्य का साधारण लक्षण है ही। पर साथ ही यह भी अनिवार्य है कि तुम्हारा कथन दूसरों के लिए हितकारी और प्रिय लगने वाला भी हो। यदि तुम्हारे सत्य बोलने से किसी निर्दोष व्यक्ति के प्राण जाते हैं अथवा वह किसी महान् संकट में फँस जाता है तो वह वास्तव में असत्य के समान ही दूषित है। इसके विपरीत यदि तुम्हारे बात को बदलकर बोल देने से किसी का उद्धार हो जाता है, प्राण-संकट टल जाता है तो उस दशा में वही सत्य है। सत्य व्रत का पालन करते समय सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के दमन का ध्यान रखना अनिवार्य है।

सामान्य व्यवहार की दृष्टि से अपने स्वार्थ की दृष्टि से गलत या बनावटी बात कहना असत्य भाषण मानना चाहिए। शास्त्रकारों ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि मनुष्य प्रायः किन अवसरों पर किस प्रकार असत्य भाषण किया करते हैं। इसका विभाजन इस प्रकार है जैसे मनुष्य के विषय में झूठ—अनेक लोग विवाह शादी के अवसर पर विरोधवश अथवा कन्या में झूठे

दोष बतलाकर उस संबंध को बिगाड़ने का प्रयत्न करते हैं। पशुओं के विषय में झूठ—जैसे थोड़ा दूध देने वाली गाय को अपने स्वार्थ के लिए बहुत दूध वाला बतला देना। अचेतन वस्तुओं के विषय में झूठ—जैसे दूसरे की जमीन, मकान आदि को अपना बतला देना। धन के लालच या ईर्ष्या के कारण किसी के विरुद्ध झूठी गवाही देना। अपने पास रखी हुई किसी की धरोहर के संबंध में झूठ बोल देना। इस प्रकार लोग नित्य-प्रति के व्यवहार में छोटे-छोटे कारणों से झूठ बोलते रहते हैं, जिससे उनकी आत्मा निर्बल बनती है और लोक में उनका विश्वास भी जाता रहता है।

अचौर्य-व्रत—

दूसरे मनुष्य की किसी वस्तु को जान-बूझकर या धोखे से छिपाकर ले लेना ही चोरी है। यह समझना कि केवल रात में दूसरों के घर जाकर उनके ताले तोड़ने वाला या सेंध लगाने वाला ही चोर है—ठीक नहीं। अगर आप किसी को चोरी की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेरणा देते हैं; चोर की किसी प्रकार से सहायता करते हैं तो वह चोरी के अपराध का ही एक अंग है और उसके लिए वर्तमान कानून के अनुसार दंड भी मिलता है। पर वास्तव में चोरी का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है और वर्तमान समय में मनुष्य सैकड़ों ऐसे तरीकों से चोरी करते हैं, जो कानून की पकड़ में कम आते हैं, पर उनका असर चोरी से कम किसी प्रकार नहीं होता।

उदाहरण के लिए मिलावट को लीजिए, अगर आप असली घी में नकली घी, तेल चर्बी आदि मिलाकर बेचते हैं तो यह स्पष्टतया ग्राहकों के रुपये की चोरी करना है, यद्यपि इसके करने वाले भेद खुलने पर भी लज्जित नहीं होते। इसी प्रकार दूसरों के शुद्ध सोने-चाँदी में अन्य सस्ती धातु मिला देना भी चोरी से कम नहीं है, यद्यपि आज इसी कर्म को करके हजारों सर्राफ, सुनार सेठ बने बैठे हैं। जो पंसारी लाल मिर्चों में गेरू, हल्दी में रामरज मिट्टी, धनियाँ में घोड़े की लीद आदि निकृष्ट पदार्थ मिला देते हैं, क्या वे चोरों को मिलने वाली सजा के हकदार नहीं हैं ? इसी प्रकार जो दुकानदार नियम से हलके बाट रखकर या छोटी नापने की गज

रखकर ग्राहकों को ठगते हैं, क्या वे चोर नहीं कहे जायेंगे ? ये सब चोरी के ही छोटे-बड़े रूप हैं और अचौर्य व्रत ग्रहण करने वाले को चाहे वह व्यापारी हो, चाहे सरकारी नौकर हो; चाहे किसी प्रकार का कारीगर या दस्तकार हो; सदैव अपनी परिश्रम की कमाई पर ही संतोष करना चाहिए। इससे वह सदा सुखी रहेगा और सद्गति का अधिकारी होगा।

ब्रह्मचर्य-व्रत—

विचारशील मनीषियों के मतानुसार कामवासना एक रोग के समान है। अध्यात्म ग्रंथों में इसी प्रकार भूख को भी एक रोग माना है, जिसकी औषधि आहार है। आयुर्वेद के सबसे प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि जो व्यक्ति आहार को भूख रूपी रोग की औषधि के रूप में ग्रहण करता है, वह सदैव स्वस्थ रहता है। पर जो भोजन को जिह्वा के स्वाद और विलास के रूप में मानकर उसी प्रकार उसका उपयोग करता है, वह सदा किसी न किसी व्याधि का शिकार बना ही रहता है। यही बात कामवासना के विषय में कही जा सकती है। उस रोग की औषधि अपनी विवाहित पत्नी से समागम बतलाया गया है। जो लोग इस वासना को पूर्ण रूप में जीत सकते हैं, वे तो संसार में बहुत बड़ी पूजनीय पदवी प्राप्त करते ही हैं, पर यह सबके लिए संभव नहीं। एक तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक अवस्था ऐसी आती है, जब इस वासना का वेग स्वाभाविक रूप से बढ़ता है और यदि उसकी पूर्ति न की जाय अथवा किसी विशेष साधन द्वारा उसे शांत न किया जाय तो वह मनुष्य के लिए हानिकारक ही सिद्ध होती है। ऐसे व्यक्तियों के लिए गीता में कहा है—

कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

(गीता ३/६)

अर्थात्—"जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य कर्मेंद्रियों को जबर्दस्ती रोककर मन से इंद्रियों के भोगों का चिंतन करता रहता है, उसे मिथ्याचारी अथवा दंभी समझना चाहिए।"

इसलिए गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचर्य व्रत पालन का आशय यही है कि सदैव अपनी विवाहित एक पत्नी में ही पूर्ण संतोष रखे और उसके सिवा प्रत्येक स्त्री को वह चाहे भली-बुरी कैसी भी हो, कदापि वासना की दृष्टि से न देखें। अपनी स्त्री के लिए भी शास्त्रीय और स्वास्थ्य संबंधी नियमों का ध्यान रखें, यह न हो कि विवाह को काम-सेवन का खुला परवाना समझ लिया और उसका ऐसी नियमितता और स्वेच्छा से उपयोग किया जाय कि कुछ ही समय में स्त्री या पुरुष किसी को क्षय जैसा भयंकर रोग लग जाय। इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए शास्त्रकारों ने जो नियम बतलाये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) दुराचारिणी स्त्रियों से बचते रहो। (२) मुँह से अश्लील शब्द निकालने की आदत को सर्वथा त्याग दो। (३) शक्ति से अधिक काम-सेवन कभी न करो। (४) अप्राकृत मैथुन का मन में कभी भूलकर भी विचार न आने दो। (५) दूसरों के वैवाहिक संबंधों की चर्चा में कभी भाग न लो।

इन नियमों का पालन करने के साथ सबसे मुख्य उपाय यह है कि अपने मन को नियंत्रित और संयत अवस्था में रखो। इंद्रियों का संचालनकर्ता मन ही है। वह यदि अध्ययन, मनन, अधिध्यासन द्वारा विकारों से बचा रहता है तो इंद्रियाँ स्वयमेव ही दुराचार की तरफ जाने से बची रहेंगी। 'यजुर्वेद' के ऋषि ने कहा है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभी शुभिर्वाजिनऽइव।
हृत् प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसकंल्पमस्तु।।

(यजु० ३४/६)

अर्थात्—"जो मन मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करता है और कुशल सारथी जिस प्रकार रथ के सभी घोड़ों को नियंत्रण में रखता है, उसी प्रकार दसों इंद्रियों को वश में रखता है, जो मन जरा रहित, वेगशाली और हृदय में स्थित है, वह हमारा मन सदाचार-युक्त श्रेष्ठ विचारों से युक्त रहे।

मानव-जीवन के उत्कर्ष विशेषतः अध्यात्म-क्षेत्र में प्रगति होने के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ ही

ब्राह्मी-भाव में समय व्यतीत करना, तदनुकूल आचरण करना है। इससे शरीर तथा मन की पवित्रता प्राप्त होती है और निम्नगामी वृत्तियों का शमन होता है। कामवासना की अधिकता और दुराचार-व्यभिचार में प्रवृत्त होना इतना बड़ा दुर्गुण है कि यह अनेक अन्य गुणों पर पानी फेर देता है। ऐसे व्यक्ति का न कहीं सम्मान होता है न कोई उसे विश्वासपात्र ही समझता है। इसलिए समाज में, इष्ट-मित्रों में, सज्जन पुरुषों में, आदरणीय स्थान प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अत्यावश्यक है।

महावीर और अन्य धर्म—

इतिहास के पाठक यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि महाभारत के बाद इस देश की दशा बहुत विशृंखलित हो गई थी और राज्य के साथ धार्मिक संगठन भी बहुत शिथिल हो गया था। प्राचीन ऋषि-मुनियों का जीवित धर्म, जिसमें आवश्यकतानुसार अनजान से अनजान विदेशी अथवा म्लेच्छ आदि के नाम से प्रसिद्ध व्यक्तियों को अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं किया जाता था, अब लुप्त हो चुका था। इसी प्रकार यज्ञों की समाज को संगठित करने वाली शक्ति भी नष्ट हो गई थी और उसकी जगह केवल अधिक से अधिक पशुबलि तथा दक्षिणा ही पुरोहितों का आकर्षण केंद्र बन गया था। इससे समाज की दशा दिन पर दिन पतित होती जाती थी और तरह-तरह की हानिकारक रूढ़ियाँ फैलती जाती थीं।

यह देखकर समाज हितैषी सज्जनों को व्यथा होने लगी, वे धर्म को गिराने वाली उन रूढ़ियों के विरुद्ध मत प्रकट करने लगे और अंत में कुछ प्रबुद्ध आत्माएँ इस परिस्थिति को बदलने के लिए कटिबद्ध होकर मैदान में आ गईं। महावीर और बुद्ध दोनों इसी प्रकार के महान् व्यक्तित्व थे, जिन्होंने उस देशव्यापी भ्रष्टाचार को, जिसका मिटाना अधिकांश लोगों को असंभव जान पड़ता था, समाप्त करके ही दम लिया। उनके अकथनीय श्रम और महान् सफलता का प्रभाव जन-साधारण पर इतना पड़ा कि लोगों ने उनको ईश्वरीय अवतारों की श्रेणी में बिठा दिया। यदि वास्तविकता

की खोज की जाय तो समस्त अवतार, दिव्यात्मा, पवित्रात्मा, पैगंबर, तीर्थंकर आदि कहलाने वाले महामानवों की महत्ता की यही रहस्य जान पड़ेगा।

'धर्म-प्रचार का उद्देश्य महावीर स्वामी के धर्म को कलंकित करने वाली पशुबलि की प्रथा और समाज में अकर्मण्यता की भावना फैलाने वाले भाग्यवाद को दूर हटाना था। इस कार्यक्रम की पूर्ति के लिए वे अनवरत तीन-तीन वर्ष तक उद्योग करते रहे और समाज सुधार के लिए एक सुदृढ़ संगठन—जैन-संघ की स्थापना की। यद्यपि उसके पहले भी जैन धर्म के सिद्धांत देश में प्रचलित थे, पर जन-साधारण में उनका प्रवेश नहीं हुआ था, केवल कुछ गृहत्यागी संन्यासी (श्रमण) ही उनके अनुसार आचरण करते थे। महावीर स्वामी ने ही उन सिद्धांतों का प्रचार और प्रसार करके साधुओं और गृहस्थों का एक विशाल संगठन बनाया और उसके द्वारा देश भर में उस धर्म को फैलाकर समाज को एक नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया।

ऐसी दशा में महावीर को स्वभावतः वैदिक और पौराणिक धर्म के अनुयायियों के बीच में ही काम करना पड़ा। जैन ग्रंथों में बतलाया गया है कि जब महावीर ने बारह वर्ष की घोर तपस्या को पूर्ण करके तीर्थंकर (विश्वगुरु) की पदवी पाई तो उस समय वे अकेले ही थे। उनके प्रथम 'समवशरण' (प्रचार-सभा) में स्वर्ग के अदृश्य देवताओं के सिवाय कोई भौतिक शरीरधारी मनुष्य न था। न उनके पास ऐसे कोई सहयोगी थे, जो उनके उपदेशों को स्मरण रखकर और बाद में लिपिबद्ध करके प्रचार योग्य बना सकें और वाद-विवाद के लिए या जिज्ञासा से आने वाले विभिन्न संप्रदाय वालों के प्रश्नों का समाधान कर सकें।

उस समय उनको समाचार मिला कि मध्यमानगरी (पावापुर) में सोमिलार्य ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ-विषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश-देशांतरों के बड़े-बड़े विद्वान् आमंत्रित होकर एकत्र हुए हैं। उन्हें यह अवसर बड़ा उपयुक्त जान पड़ा और यह सोचकर कि यज्ञ में आये हुए विद्वान् ब्राह्मणों में मेरे

सिद्धांतों से सहानुभूति रखने वाले कुछ व्यक्ति अवश्य मिल जायेंगे, वे संध्या समय होने पर भी तुरंत चल दिये और रातोंरात बारह योजन चलकर प्रातः काल मध्यमानगरी के महासेन उद्यान में जाकर ठहर गये।

उसी दिन उनके दूसरे 'समवशरण' की रचना की गई और उन्होंने उसमें एक प्रहर तक उपदेश दिया। इसका समाचार पाकर इंद्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति आदि ग्यारह वेद-वेदांग के पारंगत विद्वान् ब्राह्मण अपने पाँच सौ अनुयायियों सहित उनकी सभा में पहुँचे। इंद्रभूति ने महावीर से जीव-अजीव विषयक प्रश्न किये और उन सबका संतोषजनक उत्तर पाकर वह अपने समस्त साथियों सहित उनका शिष्य बन गया। उसे तीर्थंकर 'गणधर' की पदवी देकर गौतम नाम रखा गया। उस समय से समस्त प्रचार कार्य गौतम गणधर ही करते थे। वे ही प्रत्येक विषय पर महावीर का मंतव्य जानकर उपदेश और शास्त्रार्थ आदि कार्यों को संपन्न करते थे।

इस विवरण से प्रकट होता है कि जैन धर्म और ब्राह्मण-धर्म का संपर्क आरंभ से ही रहा है और दोनों में विरोध की कल्पना बाद में स्वार्थी या अज्ञानी लोगों ने की है। इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने किया है। लोकमान्य तिलक भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के तो सूर्य ही थे, साथ ही विद्वान् भी वे सर्वोच्च कोटि के थे। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—

'जैन-धर्म, ब्राह्मण-धर्म से अत्यंत निकट संबंध रखता है। दोनों धर्म प्राचीन और परस्पर सहयोग रखने वाले हैं। जैन हिंदू ही हैं, हिंदुओं से पृथक् नहीं गिने जा सकते। अनेक महाशय जैनियों को हिंदुओं से पृथक् करते हैं, परंतु यह धारणा ठीक नहीं। यथार्थ में जैन-समुदाय हिंदू-जाति में ही है। जिस हिंदू-धर्म में अन्य अनेक धर्मों और संप्रदायों की गणना होती है, उसी में जैनधर्म की भी गणना है। वर्तमान में जो हिंदू हैं, वे एक समय चार वर्णों में विभक्त थे। इन्हीं चार वर्णों में से जैनियों का समुदाय भी उत्पन्न हुआ है।

इसी कारण से दोनों धर्मों की समानता है, जो आज तक व्यक्त हो रही है।''

आगे चलकर लोकमान्य ने बतलाया है—''जैनियों के अहिंसा परमोधर्मः' के उदार सिद्धांत ने ब्राह्मण-धर्म पर चिरस्मरणीय मुहर लगा दी है। यज्ञ यागादिकों में पशुओं का वध होकर 'यज्ञार्थ पशु हिंसा' जो आजकल बंद हो गई है, इसका श्रेय मुख्यतः जैन धर्म को है।''

भारतवर्ष में जो ऊँच-नीच का हानिकारक भेदभाव बहुत अधिक बढ़ गया था और शूद्रों को पशुओं से भी बुरी हालत में रहने से बाध्य किया गया, उसका निराकरण भी बहुत अंशों में जैन धर्म ने किया है। इस संबंध में महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने महावीर स्वामी की प्रशंसा करते हुए एक जगह लिखा था—

''महावीर ने भारतवर्ष में मोक्ष का यह संदेश घोषित किया कि 'धर्म' एक वास्तविक सत्य है, न कि केवल एक सामाजिक प्रथा। मोक्ष उसी धर्म की शरण लेने से मिलती है न कि समाज की बाह्य धार्मिक क्रियाओं द्वारा। धर्म मनुष्यों के किसी पारस्परिक भेदभाव से संबंध नहीं रखता। आश्चर्य है कि इस शिक्षा ने जनसाधारण की बद्धमूल जाति-पाँति की अनुचित प्रथा का नाश कर दिया और समस्त देश में एक जाग्रति उत्पन्न कर दी। दीर्घकाल तक इस क्षत्रिय उपदेशक का प्रभाव ब्राह्मण-धर्म पर पड़ता रहा।''

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री वरदाकांत मुखोपाध्याय (एम० ए०) ने जैनधर्म संबंधी निबंध में लिखा है कि, ''जैनी लोग कहते हैं कि हम हिंदू हैं और वे 'हिंदू' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—हि = हिंसा, दू = दूर अर्थात् जो हिंसा से दूर रहे। सिंधुतीरवासी आदिम आर्य और उनकी संतति ही हिंदू नहीं है, परंतु हिंसा से दूर रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति हिंदू ही है। ''हिंदू धर्म'' की यह व्याख्या उचित ही है, क्योंकि जो धर्म अध्यात्म पर आधारित है और जिसको शास्त्र बार-बार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का ही उपदेश देते हैं, उसमें हिंसा को स्थान कैसे मिल सकता है ?

महावीर को एक विशिष्ट 'संप्रदाय' या 'मत' का संस्थापक मान लेने से उनका महत्त्व ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता। यद्यपि गत ढाई हजार वर्षों में तरह-तरह की उथल-पुथल करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न होने और आक्रमणकारी के रूप में लाखों विदेशियों ने बाहर से आकर भारतीय-समाज में समा जाने से आज हिंदू-धर्म का रूप बहुत कुछ बदल गया है और जैन-समाज को पृथक् 'धर्म' मान लिया गया है, पर जहाँ तक हम अनुमान कर सकते हैं, आरंभ में उसकी स्थिति वैसी ही रही होगी जैसी पिछले सौ वर्षों में 'ब्राह्म-समाज' और 'आर्य-समाज' आदि धर्म संशोधन' की दृष्टि से स्थापित की गई संस्थाओं की थी। महावीर स्वामी ने अपना प्रचार-कार्य उस समय के भारतीय समाज में प्रचलित-दूषित आचरणों और हानिकारक प्रथाओं के सुधार की दृष्टि से ही आरंभ किया था। पर आगे चलकर संकीर्ण मनोवृत्ति के पृथकतावादी और 'धर्म' के नाम पर पेट भरने वाले लोगों ने उसको एक 'नया धर्म' ही बना दिया।

हिंदू-जाति में आज जो सैकड़ों ही नहीं हजारों संप्रदाय और 'पंथ' दिखाई पड़ रहे हैं और जिनके कारण वह तीन तेरह होकर विदेशियों और विधर्मियों का शिकार हो रही है, उसका असली कारण यह पृथकतावादी मनोवृत्ति ही है। एक समय था कि हमारे ऋषि-महर्षि 'अनेक में एक' की भावना रखकर समाज को सुदृढ़ और सशक्त बनाते थे, पर आज इसके विपरीत हम 'एक में अनेक' की हीन मनोवृत्ति का परिचय देकर अपनी शक्ति को स्वयं ही क्षीण कर रहे हैं। यदि हम बुद्धिमत्ता और उदारता से काम लेकर अपने इधर-उधर बिखरे पड़े हुए अंगों को सुसंगठित कर सकें तो पूर्वकालीन युग की तरह आज भी हम संसार की समस्त जातियों में अवश्य ही अग्रगण्य बन सकते हैं।

❐ ❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।